

उत्तर-आधुनिकता, वास्तविकता और इतिहास की पाठ्यपुस्तकें

क्या मराठों ने पूरे भारत पर राज किया था ?

अमन मदान

किस ज्ञान को सही मानें, किस हद तक सही मानें या फिर पूरा गलत मानें— यह समझना एक आसान प्रक्रिया नहीं है। अमन मदान का यह लेख ज्ञान रचना के उद्यम में उत्तर आधुनिकतावाद के योगदान की पड़ताल करते हुए, इसकी कठोर और नरम अवधारणाओं की चर्चा करता है। लेख बताता है कि इन दोनों में क्या फर्क है। साथ ही यह रेखांकित करता है कि ज्ञान के सन्दर्भ में आगे बढ़ने में हमें उत्तर-आधुनिकतावाद की नरम अवधारणा से मदद मिल सकती है। सं.

मुझे शुरुआत में ही साफ़ कह देना चाहिए कि यह लेख मुख्य रूप से महाराष्ट्र की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के बारे में नहीं है। असल में यह उनका विरोध करने वालों की सोच में एक कमज़ोरी के बारे में है, और उस कमज़ोरी को मिटाने की कोशिश है। नवम्बर 2017 में मैंने टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज, मुंबई में मेरे मित्र किशोर दरक द्वारा दिये गये एक भाषण को सुना। इस भाषण में उन्होंने बताया कि महाराष्ट्र में 2017 की लिखी इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में मराठी पहचान को एक संकीर्ण तरीके से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिये, कक्षा 7 की इतिहास और नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तक के कवर पर भगवे झण्डे को दिखाया गया है, जो अटक, तंजावूर, जिंजी, दिल्ली, कटक और रायगढ़ पर लहरा रहा है।

इस पूरे नक्शे में भगवे झण्डे के अलावा कोई राजनीतिक पहचान या सीमा नहीं दिखती। किशोर के भाषण में इसके साथ और भी कई उदाहरण दिए गए थे। भाषण के बाद की चर्चा में इस तरह की पहचान को बढ़ाने से कैसी समस्याएँ उभरती हैं, इस पर काफ़ी चर्चा हुई। मगर इन आलोचकों की बातों में एक खास किस्म का अंतर्विरोध दिख रहा था। इस तरह का अंतर्विरोध हिन्दुत्व और कई अन्य तरह

के सांस्कृतिक दमन के आलोचकों में अक्सर दिखाई देता है। एक तरफ़ तो आलोचकों को पक्का यकीन था कि जिस नज़रिए की वे चर्चा कर रहे थे वह ग़लत था और उसकी तुलना में रचनावादी, दलित एवं नारीवादी नज़रिए कहीं बेहतर थे। लेकिन दूसरी तरफ़ वे प्रमाण और असली इतिहास की बात करने से कतरा रहे थे। जब यह बात की गई कि इतिहास पढ़ाने का अर्थ था कि बच्चे स्रोतों को तोलना सीखें, व्याख्याओं पर सवाल करना जानें और सहयोगी प्रमाण ढूँढ़ा करें, तो लगा कि उनको इस तरह की बातों पर भरोसा कम था। मगर फिर एक समस्या यह उठती है कि हम आलोचकों की अपनी समझ का भी मान्यीकरण कैसे करें? जब वे कह रहे थे कि बच्चों को यह सिखाना कि 'महाराष्ट्र के वासी भारत के रक्षक और राजा थे' सही नहीं है, तो उस का आधार क्या था?

बहुत सारे लोग यह मानते हैं और मेरी राय में सही मानते हैं कि ज्ञान दुनिया से परे नहीं है, बल्कि सत्ता और बल से प्रभावित होता है। मगर कई बार उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान की मान्यता के राजनीतिक कारणों के अलावा कोई भी कारण ढूँढ़ना मुश्किल है। मेरा कहना है कि यह उनकी सोच की कमज़ोरी है और उसे सही करना बहुत ज़रूरी है।

यह लेख उत्तर-आधुनिकतावाद (post-modernism) के उस बेहतर योगदान पर केन्द्रित है जिसने हमें ज्ञान और सत्ता के बीच के रिश्ते को टटोलने पर मजबूर किया है। मगर इसके बावजूद कि ज्ञान के बिल्कुल ठोस आधार कभी नहीं मिल सकते, फिर भी यथार्थवाद, प्रमाण और उचित व्याख्या अभी भी काफ़ी हद तक काम की बातें हैं। हाँ, इतिहास की इस या उस समझ के बीच में चयन करने की समस्या तब बढ़ जाती है, जब हम यह मानते हैं कि ज्ञान स्वयं में सामाजिक रचना है।

ऐसी परिस्थिति में हमें पाठ्यचर्या के औचित्य ढूँढ़ने की प्रक्रिया को और मज़बूत बनाने की ज़रूरत है। उसे सिर्फ़ राजनीतिक कहकर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यह लेख उत्तर-आधुनिकतावाद की कुछ अवधारणाओं की जाँच करेगा और उनके योगदान का आकलन करेगा। मेरा मत है कि उत्तर-आधुनिकतावाद की कठोर और नरम धाराओं में फ़र्क करना लाभदायक है। अगर हम एक नरम किस्म के ज्ञान के समाजशास्त्रीय नज़रिए का प्रयोग करते हैं तो समकालीन शिक्षा और संस्कृति की राजनीति को पार करते हुए कुछ दिशाएँ ढूँढ़ पायेंगे।

सामाजिक सिद्धान्त में ज्ञान की निश्चितता

सामाजिक विज्ञान में यह बहुत पहले से स्वीकृत है कि सामाजिक जीवन व उसमें सत्ता के संघर्ष हमारी संस्कृति पर प्रभाव डालते हैं और हमारे ज्ञान पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। मार्क्स के अनुसार उनके समय की जर्मन फ़िलॉसफी पर दुनिया को देखने का बुर्जुआ नज़रिया हावी था। (Marx 2018 / 1932)। मैक्स वेबर ने कहा था कि शिक्षित होने का अर्थ अलग-अलग समय में अलग था और उनके दौर में शिक्षा का आदर्श कागज़ी कानूनों का पालन

करने वाला मुनीम बनाना बनकर रह गया था। मदान (Madan 2014), शैलॉट पर्किन्स गिलमैन (Charlotte Perkins Gilman -1998 / 1898) का कहना था कि औरतों की समाज में भूमिका का निर्धारण आदमियों के वर्चस्व के कारण ज़्यादा और औरतों की अपनी क्षमताओं के कारण कम था। भारत में ज्योतिबा फुले (2002) ने 19वीं शताब्दी में ही कह दिया था कि अंग्रेजों के राज में शिक्षा शहरी जीवन को आदर्श बना रही थी और खेती को कमतर माना जा रहा था। हम सब भी जानते हैं कि कैसे गाँधी ने अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली के मूल तत्वों को चुनौती दी थी।

ज्ञान और संस्कृति सामाजिक रिश्तों की उपज हैं, जिसमें दमन निहित होता है, इस पुराने ख्याल को उत्तर-संरचनावाद (Post-structuralism) और उत्तर-आधुनिकतावाद द्वारा नई गति और विस्तार से बयान किया गया है। इन दोनों की शुरुआत पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक सिद्धान्त में हुई थी और फिर वहाँ से ये अंग्रेज़ी भाषीय अकादमिक जगत पर छा गये। इन्होंने मूलभूतवाद (Foundationalism) की, एक बहुत प्रभावशाली आलोचना की जिसका सामाजिक विज्ञान के विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान है। मूलभूतवाद के अनुसार सामान्यतः ज्ञान के ठोस, अकादमिक आधार होते हैं। जबकि उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकवाद की आलोचना ने हमें अपनी कई मान्यताओं, मूल्यों और प्रथाओं पर पुनर्विचार करने पर मजबूर किया है। रोलॉ बार्थ (Roland Barthes), ज़ाक देरीदा (Jacques Derrida), ज्यॉ फ़्रांस्वा ल्योतार (Jean-Francois Lyotard), फ़्रेड्रिक जेमसन (Frederic Jameson), मिशेल फूको (Michel Foucault), जूडिथ बटलर (Judith Butler) जैसे कई विद्वानों के काम को आज 'उत्तर-आधुनिकता का मोड़' के नाम से जाना जाता है, हालाँकि सभी विद्वान इस नाम से

यह माना जाता था कि ज्ञान के ठोस, अकादमिक आधार होते हैं। जबकि उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकवाद की आलोचना ने हमें अपनी कई मान्यताओं, मूल्यों और प्रथाओं पर पुनर्विचार करने पर मजबूर किया है।

खुश नहीं हैं। उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद की मुख्य बातें और विश्लेषण क्योंकि एक दूसरे से मेल खाते हैं, इसलिए मैं सुलभता की दृष्टि से दोनों को उत्तर-आधुनिकतावाद ही कहूँगा। परन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि इन दोनों बौद्धिक चलनों की शुरुआत थोड़े अलग तरीके से हुई थी। उत्तर-संरचनावाद, भाषा विज्ञान (linguistics) और संरचनावाद (Structuralism) से उत्पन्न हुआ था और उत्तर-आधुनिकतावाद पर विवेचनात्मक सिद्धान्त (Critical theory) का ज्यादा असर है।

शायद यहाँ पर यह स्पष्ट करने से मदद मिलेगी कि उत्तर आधुनिकतावाद के कम से कम तीन अलग-अलग मतलब रहे हैं। पहला मतलब, ज्ञानमीमांसा में एक नज़रिए का है, जो किसी भी तरह की निश्चितता पर सवाल उठाता है और ज्ञान के मूलभूत आधार पर प्रश्न करता है। दूसरा मतलब कई देशों के सामाजिक ढाँचे से वाबस्ता है, जिन के बारे में कहा जाता है कि औद्योगिकरण और पूँजीवाद के बढ़ते विकास के कारण वे आधुनिकता से उत्तर-आधुनिकता की तरफ़ निकल चुके हैं। तीसरा मतलब, कला की एक विशेष शैली से सम्बन्धित है, जो एकग्र और अखण्ड कथाओं और अर्थों से अपने आप को दूर करता है। तीनों तरह के मतलब अपने आप में रोचक और प्रासंगिक हैं, परन्तु मैं इस लेख में उत्तर आधुनिकतावाद के पहले यानी ज्ञानमीमांसक अर्थ के बारे में ही मुख्यतः बात कर रहा हूँ।

उत्तर-आधुनिकतावाद का संस्कृति में हस्तक्षेप इस बात को ले कर है कि किसी भी तरह की सांस्कृतिक समझ या ज्ञान कभी भी वास्तविकता से सीधे तरीके से जुड़ा नहीं होता। हमारी समझ कभी भी वास्तविकता की सीधी छवि नहीं बना

पाती। वह एक तरह की धुंध के बीच से उसे अधूरे, विकृत रूप में देख पाती है। उदाहरण के लिये ज़ाक देरीदा (Jacques Derrida) (1981) ने क्लाद लेवी स्ट्रास (Claude Levi-Strauss) जैसे संरचनावादियों और रिलेशनल भाषा-विज्ञान के विचारों को आगे बढ़ाते हुए कहा था कि हमारी मान्यताएँ और अवधारणाएँ एक बाहरी वास्तविकता की सीधी प्रतिबिम्ब नहीं हैं। देरीदा (Derrida) का कहना था कि इसकी जगह वे कुछ अन्य अर्थों की व्यवस्थाओं पर टिकी होती हैं। लाल रंग को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसे पीले और नारंगी से फ़र्क करते हुए समझते हैं। इन अर्थों के जाल का आधार दूसरे अर्थों का जाल है, इत्यादि। देरीदा के अनुसार, किसी भी बात के अर्थ को ठोस रूप से पकड़ने की समस्या यह है कि ऐसे करने की कोशिश के दौरान वह अर्थ हमसे दूर होता जाता है।

बहुत सारे लोग यह मानते हैं और मेरी राय में सही मानते हैं कि ज्ञान दुनिया से ऊपर नहीं बसता, बल्कि सत्ता और बल से प्रभावित होता है। मगर कई बार उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान की मान्यता के राजनैतिक कारणों के अलावा कोई भी कारण ढूँढ़ना मुश्किल लगता है। मेरा कहना है कि यह उनकी सोच में कमजोरी है और उसे सही करना बहुत ज़रूरी है।

शक्ति (या सत्ता) उत्तर-आधुनिकतावाद के संस्कृति और ज्ञान के विश्लेषण में बहुत महत्व रखती है। यदि मान्यताएँ किसी ठोस आधार पर सीधे रूप से नहीं टिकी रहती तो फिर अलग-अलग विचारों की व्यवस्थाओं से कई तरह की मान्यताएँ निकल सकती हैं। उत्तर-आधुनिकतावादियों का मानना है कि हम कौन-सी मान्यताओं या व्याख्याओं को चुनते हैं, यह इससे प्रभावित होता है कि समाज में कौन-से समूह के पास सत्ता है और किनका वर्चस्व दूसरों पर हावी है। जब सत्ता, चयन के आधार के रूप में देखी जाती है तो स्वाभाविक है कि उत्तर-आधुनिकतावादी प्रचलित सांस्कृतिक मान्यताओं को काफ़ी संदेह से देखते हैं।

कई उत्तर-आधुनिकतावादी कहते हैं कि सभी ज्ञान और संस्कृतियों को भाषा-वैज्ञानिक रूप से पढ़ा जा सकता है। कई तरह के ज्ञान में एक

ही कथानक या Narrative रहता है जो अलग-अलग तरीके से बयान किया जाता है। वे मानते हैं कि क्योंकि हर तरीके का ज्ञान एक तरह से कथानकों की अभिव्यक्ति है तो उसे मौलिक रूप से सच्चा या झूठा नहीं कहा जा सकता। देरीदा और उनके कई साथी कहते हैं कि किसी भी कथानक को दूसरे कथानक से ज्यादा सच्चा नहीं माना जा सकता। यह ध्यान देने लायक है कि यह लोग सच्चाई को सिर्फ कथानक में ही ढूँढ़ते हैं। देरीदा मानते हैं कि एक Meta-Narrative या महा-कथानक को सिर्फ थोपा जा सकता, उसको सही मायने में जायज़ नहीं ठहराया जा सकता। उत्तर-आधुनिकतावादी उससे पीछे हटने की बात करते हैं। ऐसे में जो स्थिति निकलती है उसमें सिर्फ कई सारे कथानक ही दिखते हैं और आप चाहें तो सिर्फ अपना प्रिय कथानक ही चुन लें। अलग-अलग कहानियों के बीच में से चयन करने का उनके पास ऐसा कोई तरीका नहीं है जो उन्हें सत्ता के प्रयोग पर आधारित नहीं लगता।

ज्याँ फ्रांस्वा ल्योतार (1984) ने घोषणा की थी कि उत्तर-आधुनिकतावाद में मूल रूप से महा-कथानकों को लेकर एक गहरी शंका है। उनका कहना था कि जब से विज्ञान और दर्शन अलग-अलग टुकड़ों में बँट गए थे (Fragmentation of Knowledge), तब से किसी भी तरह के ज्ञान का औचित्य सिद्ध करना नामुमकिन हो गया। अब यह स्थिति थी कि मान्यता किसी मौलिक तर्क या सिद्धान्त से न आकर सिर्फ प्रदर्शन और अभिनय से आती थी। पूँजीवाद इसलिए सही लगता था क्योंकि वह उत्पादन का पहाड़ खड़ा कर रहा था। उसके बारे में नैतिक सवाल उठाना अब बेमानी सा लगता था।

कई उत्तर आधुनिकतावादी कहते हैं कि सभी ज्ञान और संस्कृतियों को भाषा-वैज्ञानिक रूप से पढ़ा जा सकता है। कई तरह के ज्ञान में एक ही कथानक या NARRATIVE रहता है जो अलग-अलग तरीके से बयान किया जाता है। वे मानते हैं कि क्योंकि हर तरीके का ज्ञान एक तरह से कथानकों की अभिव्यक्ति है तो उसे मौलिक रूप से सच्चा या झूठा नहीं कहा जा सकता।

बुनियादों पर सवाल उठाने और कई तरह की मान्यताओं व ज्ञान पर सवाल उठाने के फलस्वरूप कई सांस्कृतिक कृतियों को सिर्फ वर्चस्वी बातों से बना हुआ दिखाया गया। इस प्रक्रिया को Deconstruction या विखंडन कहा गया। उससे पता चला के कई बार ऐसे लगता था कि व्यक्ति पितृसत्ता, जातिवाद और अन्य किस्म के शोषण का विरोध कर रहा था मगर असल में वह फिर उन्हीं को मज़बूत किये जा रहा था। इस तरह के विश्लेषण का आज के सामाजिक अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान है। उत्तर उपनिवेशवादी सिद्धान्त (Post-colonial theory) के रूप में इसने हमें यह समझने की मदद की है कि जो कुछ विकास के नाम से होता है, कई बार वह सिर्फ सरकार और उसके पीछे खड़े कुछ स्वार्थों की पूर्ति का और दलित, गरीब, आदिवासी और महिलाओं को शोषित और उत्पीड़ित करने का तरीका होता है। हालाँकि हर समय जपा यही जाता है कि बड़े बाँध और महँगे विज्ञान द्वारा उन की मदद की जा रही है।

उत्तर-आधुनिकतावाद का एक संतुलित आकलन

उत्तर-आधुनिकतावाद का कई तरह से विरोध हुआ है और उस पर एक लम्बे अरसे से विवाद चला आ रहा है। मगर कालचक्र भी घूम चुका है और आज जब संस्कृतियों के संघर्ष की बात आम तौर पर की जाती है, तब उत्तर-आधुनिकतावादी नज़रिया जो किसी के किसी भी विचार को समर्थन देने से कतराता था, अजीब-सा लगता है। दूसरी तरफ़, उत्तर-आधुनिकतावाद की ज्ञान मीमांसक बातों पर पिछले तीन दशकों में कई विद्वानों ने पुनर्विचार किया है (Giddens 1991, Sarup 1993, Ritzer 1997)।

एक आम शिकायत यह रही है कि उत्तर-आधुनिकतावादी अपने आप को ही झूठा साबित कर देते हैं। अगर हर मान्यता सिर्फ़ उन्हीं की संस्कृति के लिये सत्य हो सकती है, तो फिर यह विवरण कोई दूसरे समाज का व्यक्ति कैसे समझ सकता है? ऐसी कोई भी बात कैसे कही जा सकती है, जो सामाजिक सरहदों के पार कोई और न समझ सकता हो? हम भारतीय कैसे समझ सकते हैं कि फ्रांसीसी या अमरीकी लेखक आखिर कह क्या रहे थे? अगर ऐसा है तो फिर हम फँस गए क्योंकि हम तो उत्तर-आधुनिकतावाद भी नहीं समझ सकते।

इन समस्याओं के साथ ही उत्तर-आधुनिकतावादियों के लिखने के तरीके से नाखुश होकर कई लोग पूरे उत्तर-आधुनिकतावाद को नकार देते हैं। उनकी लेखन शैली में अराजकता और उदासीनता झलकती है। मगर शायद उत्तर-आधुनिकतावाद को सिर्फ़ बेकार की बातें कह देना जल्दबाज़ी होगा। असल में वे लोग कुछ काफ़ी महत्वपूर्ण बात कहने की कोशिश कर रहे हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद को ज़्यादा बेहतर तरीके से जाँचने के लिये उसे उसके अपने ही परिवेश में समझना फ़ायदेमंद होगा।

उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर संरचनावादी कुछ एलीट पश्चिमी यूरोपीय और उत्तर अमरीकी संस्थाओं के विद्वान थे। वे 1970 और 1980 के दशकों में लिख रहे थे जब उनके अपने देशों की कुछ संस्कृतियाँ अपने आप को सबसे सही और अच्छी जतलाने में लगी हुई थीं। उदारवादी कल्याणकारी (Welfare) पूँजीवाद को लगता था कि उसके पास हर चीज़ का ज़वाब था। उत्तर-आधुनिकतावादी एक ऐसी संस्कृति के खिलाफ़ बोल रहे थे जो

अपने खुद के अन्दर पितृसत्ता और नस्लवाद को नज़रअंदाज करते हुए बाकी दुनिया में शोषण और हिंसा भड़का रहे थे। इस सब के बावजूद वे अपने आप को एक सर्वव्यापी सच के रूप में भी देख रहे थे। यह वह परिवेश था कि जिस में उत्तर-आधुनिकतावादियों ने अपने ही देशों के नैतिक, सामाजिक और तकनीकी बातों की ज्ञान-मीमांसक नींवों की आलोचना की। उत्तर-आधुनिकतावादी तो मूल रूप से अपने यहाँ के वर्चस्व रखने वाली कुछ बातों का पर्दाफाश करना चाहते थे। वे वैकल्पिक सिद्धान्त बनाने के इच्छुक नहीं थे। हालाँकि अब इतने दशक बीतने के बाद हमारे सामने कुछ अलग तरह की चुनौतियाँ हैं और हम चीज़ों को किसी और तरीके से भी देख सकते हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद का कई तरह से विरोध हुआ है और उस पर एक लम्बे अरसे से विवाद चला आ रहा है। मगर कालचक्र भी घूम चुका है और आज जब संस्कृतियों के संघर्ष की बात आमतौर पर की जाती है, तब उत्तर आधुनिकतावादी नज़रिया जो किसी के किसी भी विचार को समर्थन देने से कतराता था, अब अजीब-सा लगता है।

उनके सीमित इरादों के उदाहरण के लिये मिशेल फूको का काम देखिए जिन्होंने कहा था कि हमें सिर्फ़ ज्ञान की बात नहीं करनी चाहिए, बल्कि हमें ज्ञान-सत्ता की अवधारणा का प्रयोग करना चाहिए। हर तरह का ज्ञान, हर प्रकार के ज्ञान का अनुशासन (Discipline) असल में ताकत से बना हुआ होता है और

हमारे चेतन को एक खास तरीके से अनुशासित कर रहा होता है। वह एक विमर्श (Discourse) है जो कुछ विशेष अवधारणाओं और क्रियाओं को एक खास तरीके से बाँध कर कुछ विशेष स्वार्थों की मदद कर रहा होता है। मिशेल फूको स्वयं एक समलैंगिक पुरुष था और उसके लेखन में यह बात अहम थी कि चिकित्सा और मनोविज्ञान विषमलैंगिकता यानी Heterosexuality को सामान्य करने की कोशिश करती थी। अपनी किताब 'Archaeology of Knowledge' (Foucault 1972 / 1968) में उन्होंने स्पष्ट तौर पर बताया है कि उनका उद्देश्य मानव ज्ञान के बनने में जिस तरह की राजनीति और चयन का

प्रयोग होता है, को सबके सामने लाना था। यह महत्वपूर्ण है कि वे यह नहीं कहते हैं कि देखने वाले के बाहर कोई वास्तविकता नहीं है। न ही वे यह कहते हैं कि हम वास्तविकता की किसी भी तरह की छवि नहीं बना सकते। और न वह कहते हैं कि दो अलग किस्म के मूल्यों में से चयन करना नामुमकिन है। सारा समय वे खुद भी तो वही कर रहे थे। उन्हें और उनकी तरह सोचने वालों की रुचि इस बात में है कि निरूपण या Representation कैसे होता है। निरूपण क्या हो रहा है, इसमें उनकी रुचि नहीं है। फूको (Foucault) के लिए यह "कैसे" सामाजिक सिद्धान्त का नया सवाल है और यह मानव अस्तित्व को समझने में बहुत ज़रूरी था।

जब हम उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद के निर्णायक लेखों को देखते हैं तो यह लगता है कि वे बाहरीय अस्तित्व के होने को नकारते हैं। ऐसा भी लगता है कि उनके अनुसार ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता जो अलग-अलग चेतनाओं को व्यक्तिगत या सामूहिक तौर पर साझे रूप में रखता हो। असल में वे यह कहने की कोशिश कर रहे हैं कि हम अपनी कई मान्यताओं पर पुनर्विचार करें जिन पर हम बड़े सहज रूप से यकीन किए बैठे हैं। फूको और कई दूसरों को कभी-कभी साक्षात्कार में पकड़ने की कोशिश की जाती थी कि क्या वे मानते हैं कि कोई मान्य किस्म का ज्ञान मुमकिन है भी या नहीं। मगर अपने खास खिलवाड़ के अन्दाज़ से वे इस सवाल को दूसरी ओर ले जाते थे और उसका कोई सीधा जवाब नहीं देते (Foucault 1984)। इस तरह के जवाब से उनके निन्दकों का गुस्सा बढ़ता। मगर फूको और उन सबको जो ज्ञान की सामाजिक जड़ों की बात करते हैं,

यह कहना कि हम जनतंत्र और समानता के पक्ष में खड़े हैं, यह भी एक तरह के बल का ही प्रयोग है और कभी-कभी वर्चस्व के रूप में भी बदल सकता है। इस तरह के बल के प्रयोग को उचित ठहराने की प्रक्रिया से हम बच नहीं सकते। उत्तर-आधुनिकतावादियों और उत्तर-उपनिवेशवादियों पर यह आरोप लगाया गया है कि वे कुछ बातों का तो विरोध करते हैं मगर कुछ का नहीं।

उन्हें सिर्फ Relativist या सापेक्षवादी कह कर टाल देना शायद उनके साथ नाइन्साफ़ी होगी।

मूलभूतवाद की कठोर और नरम आलोचनाएँ

हमारी पाठ्यक्रम की राजनीति को समझने में उत्तर-आधुनिकतावाद और ज्ञान की समाजशास्त्रीय समझ क्या मदद कर सकते हैं? इसके लिए मूलभूतवाद पर जिन लोगों ने सवाल उठाए हैं, उनके कठोर और नरम नज़रियों में फ़र्क करना लाभदायक है। कठोर नज़रिए हर तरह के मूलभूतवाद पर शक ही करते हैं और उनके सामने रखे हर मत या महा-कथानक को नकार देते हैं। यह शायद इसलिए भी है क्योंकि उत्तर-आधुनिकतावाद पर भारी मात्रा में अराजकता के राजनीतिक दृष्टिकोण का असर है। किसी भी तरह की वैकल्पिक व्यवस्था का मतलब होता है, उसमें फिर से बल का प्रयोग करना और यह एक ऐसी बात थी जिससे उन्हें घृणा थी।

उत्तर-आधुनिकतावाद के आलोचकों का कहना है कि उनके द्वारा बल के प्रयोग की इस इस तरह की

निन्दा ज़्यादा जायज़ नहीं है। आखिर वे खुद भी तो कुछ विचारों को ज़्यादा शक की निगाह से देखते थे और दूसरों को नहीं। यह कहना कि हम जनतंत्र और समानता के पक्ष में खड़े हैं, यह भी एक तरह के बल का ही प्रयोग है और कभी-कभी वर्चस्व के रूप में भी बदल सकता है। इस तरह के बल के प्रयोग को उचित ठहराने की प्रक्रिया से हम बच नहीं सकते। उत्तर-आधुनिकतावादियों और उत्तर-उपनिवेशवादियों पर यह आरोप लगाया गया है कि वे कुछ बातों का तो विरोध करते हैं मगर कुछ का नहीं। उदाहरण के लिये पार्था चटर्जी (1993) ने बहुत

तीखे तरीके से राष्ट्रवाद की राजनीति द्वारा शिक्षा और संस्कृति में शोषण की व्याख्या की है। मगर इसी तरह से आदिवासी या मुस्लिम अस्मिता को बनाने में जैसा बल या राजनीति का प्रयोग किया गया, उसकी व्याख्या बराबर रूप से नहीं करते।

पिछले कुछ सालों से उत्तर आधुनिकतावाद का सीमित और मध्यम रूप ज़ोर पकड़ रहा है, जो अक्सर यह नहीं चाहता कि वह उस नाम से जाना जाए। एंथनी गिडेंस (Anthony Giddens) (1984), सेयला बेनहबीब (Seyla Benhabib) (1992), उलरिख बेक (Ulrich Beck) (1992) जैसे कई विद्वान मानते हैं कि ज्ञान के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के बाद हमें अपनी सोच की श्रेणियों, जिसके आधार पर दुनिया की चीजों का वर्गीकरण व विश्लेषण किया जा सकता है और ज्ञान बुनने की प्रक्रियाओं के बारे में बहुत सचेत होने की ज़रूरत है। मगर फिर भी ऐसी श्रेणियाँ विकसित की जा सकती हैं जो कुछ हद तक वास्तविकता के अनुरूप हैं। हमारे ज्ञान में कई तरह के झुकाव और पक्षपात हो सकते हैं, यह तो आखिर बहुत पुरानी बात है। उत्तर-आधुनिकतावाद का योगदान यह रहा है कि वह हमें इस के बारे में पहले से बहुत ज़्यादा संवेदनशील करती है।

मूलभूतवाद की यह सीमित और नरम किस्म की आलोचना हमें अलग-अलग मतों के बीच में चुनाव करने देती है। मगर फिर भी एक अन्तिम और निर्णायक किस्म की मान्यता पर नहीं पहुँचने देती। हालाँकि कई तरह के अवलोकनों और प्रयोगों की तुलना की जा सकती है और उनमें से ज़्यादा अच्छे वालों का चयन किया जा सकता है। वास्तविकता की परिकल्पना को स्वीकार किया जाता है और यह भी स्वीकार

किया जाता है कि हम उसे कभी भी पूरी तरह से नहीं पा सकते। निष्पक्ष होना बहुत कठिन हो सकता है मगर फिर भी ज्ञान पाने के कुछ तरीके हमें दूसरे तरीकों की तुलना में वास्तविकता के ज़्यादा करीब ले जा सकते हैं। हमारे सामने एक बड़ी चुनौती यह ज़रूर है कि हम कैसे पहचानें कि सत्ता और हमारे मूल्य किस तरह से हमारी समझ को प्रभावित कर रहे हैं। मगर सिर्फ सत्ता या उसके न होने से बात सही या ग़लत नहीं स्थापित होती है। अगर हम यह कहते हैं कि दलित या महिलाओं की समझ किसी बात को ले कर ज़्यादा सही है तो हमें उनके शोषित होने के अलावा भी कोई अन्य कारण देना पड़ेगा।

निष्पक्ष होना बहुत कठिन हो सकता है मगर फिर भी ज्ञान पाने के कुछ तरीके हमें दूसरे तरीकों की तुलना में वास्तविकता के ज़्यादा करीब ले जा सकते हैं। हमारे सामने एक बड़ी चुनौती यह ज़रूर है कि हम कैसे पहचानें कि सत्ता और हमारे मूल्य किस तरह से हमारी समझ को प्रभावित कर रहे हैं। मगर सिर्फ सत्ता या उसके न होने से बात सही या ग़लत नहीं स्थापित होती है।

जब हम सत्यता के कुछ अन्य विस्तृत कारण भी ढूँढ़ते हैं तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि अंतर-आत्मीयता (Inter-subjectivity) किसी रूप में मौजूद हो सकती है। हमें यह भी मानना पड़ता है कुछ ऐसे हालात हो सकते हैं जो सिर्फ हमारे मन की कल्पना नहीं हैं। इस तरह की सीमित किस्म की मूलभूतवाद की व्याख्या में कई गुण हैं, जिसमें से एक यह भी है कि वह अपने आप के औचित्य के बारे में उत्तर

-आधुनिकतावाद से ज़्यादा बातें कह सकती हैं। यदि सभी कुछ सत्ता है तो फिर हम उत्तर-आधुनिकतावाद को भी सिर्फ सत्ता कह कर दरकिनार क्यों नहीं कर सकते। मगर यह आप उतनी आसानी से उनके साथ नहीं कर सकते जो कि अंतर-आत्मीयता (Inter-subjectivity) और वास्तविकता को थोड़ा बहुत भी मानते हों।

ज्ञान के सीमित समाजशास्त्रीय विश्लेषण के नज़रिए में कभी भी संस्कृति को सरल रूप में नहीं देखा जा सकता। संस्कृति की लगातार आलोचना और पुनर्विचार की ज़रूरत होती है। आधुनिकतावाद से निकले हुये नज़रियों में यह

कोई नई बात नहीं है। वैज्ञानिकों की अपने बारे में जो छवि है, उसमें यह शामिल है कि वे लगातार नए विचारों का स्वागत करते हैं। फूको ने कांट (Kant) के छोटे से लेख "प्रबोधन (Enlightenment) क्या है" के जवाब में यही सवाल पूछते हुए एक लम्बा लेख लिखा था (Foucault 1984)। उसमें इसी खुलेपन को प्रबोधन की विशेषता कहा गया था। फूको आधुनिकता के सख्त खिलाफ थे, परन्तु एक बात उन्हें बहुत पसन्द थी। वह थी लगातार ऐसी समझ से ऊपर उठने की कोशिश जो किसी एक जगह, युग और परिवेश से जुड़ी हो। फूको के लिये प्रबोधन की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वह ज़िन्दगी को तलवार की धार पर जीने को कहती है। हर समय यह पूछने को तैयार रहती है कि क्या हमारी मान्यताएँ, हमारे विश्वास वाकई सही हैं, हर समय उन्हें उखाड़ कर नये रूप से उन्हें बुनने को तैयार रहती है। नरम किस्म के ज्ञान के समाजशास्त्र की विशेषता यह है कि वह ऐसा करने को तैयार है। तीव्र या कठोर उत्तर-आधुनिकतावाद की तरह वह अपने आप को एक शक के चक्रव्यूह में नहीं फँसा देती, जहाँ कुछ भी ज़्यादा और कम सच्चा नहीं।

उसकी तुलना में, इस तरह की नरम सोच रखने वाले विद्वान इस बात पर ज़्यादा जोर देते हैं कि ऐसे ज्ञान, संस्कृतियाँ और समझ बनाए जाएँ जो थोड़ा-सा ज़्यादा अन्तर-व्यक्तिपरक (Inter-subjective) हों, जिनकी मान्यता कुछ और लोगों के साथ किए संवाद द्वारा तय की जाए। जब हम कहते हैं कि समाज विज्ञान, विज्ञान, साहित्य, इत्यादि सभी विमर्श (Discourses) और सत्ता से बने होते हैं न कि निष्पक्ष सत्य से। तब उसका अर्थ यह नहीं कि हम उनमें कुछ भी सुधार होने की उम्मीद ही छोड़ दें। उसकी जगह यह पूछना ज़रूरी है कि हम उनके सुधरे हुये संस्करण कैसे बनाएँ। हो सकता है कि ऐसा करने पर हमारे

जब हम कहते हैं कि समाज विज्ञान, विज्ञान, साहित्य, इत्यादि सभी विमर्श और सत्ता से बने होते हैं न कि निष्पक्ष सत्य से। तब उसका अर्थ यह नहीं कि हम उनमें कुछ भी सुधार होने की उम्मीद ही छोड़ दें। उसकी जगह यह पूछना ज़रूरी है कि हम उनके सुधरे हुये संस्करण कैसे बनाएँ। हो सकता है कि ऐसा करने पर हमारे ज्ञान को हमें मौलिक रूप से परिवर्तित करना पड़े।

ज्ञान को हमें मौलिक रूप से परिवर्तित करना पड़े। या हो सकता है कि पुनर्निरीक्षण के बाद इतना फ़र्क न भी पड़े। जब तक हम अपने ज्ञान में सत्ता की छाप को ढूँढ़ने की कोशिश नहीं करते, तब तक हमें पता भी कैसे चल सकता है?

मूलभूतवाद का सीमित व्याख्यान और इतिहास की पाठ्यपुस्तकें

जब समाज विज्ञान और विशेष रूप से इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के लेखन की बात आती है तो ज्ञान के सीमित व्याख्यान में वे कई बातें होती हैं जो कि कठोर किस्म के उत्तर-आधुनिकतावाद में भी हैं। यह भी कहते हैं कि हम मूलभूतवाद से अपने आप को दूर रखें, यह न सोचें कि ज्ञान की नीवें अविवादित हैं, किसी भी बात की अनिवार्यता पर यकीन न करें, और विमर्श (Discourses) में शक्ति के प्रयोग के प्रति संवेदनशील रहें। लेकिन यह सिर्फ आलोचना तक करने पर रुक नहीं जाता, वह उसका इस्तेमाल करके ज़्यादा अच्छी संस्कृति और ज्ञान बनाने की कोशिश करती है। जो नया ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर आलोचना के लिये खुला है।

आज के दौर में कई जोरदार दावे किये जा रहे हैं कि इतिहास जैसे विषयों में बातों को सही करने की ज़रूरत है। सीमित नज़रिया इस की सराहना करेगा मगर इस की भी राजनीति को समझने की कोशिश करेगा। यह स्वीकार किया जाएगा कि पुरानी इतिहास की पाठ्यपुस्तकें वास्तव में नेहरूवाद से प्रभावित थीं और कुछ सामाजिक समूहों के वर्चस्व पर टिकी हुई थीं। हालाँकि, नरम उत्तर-आधुनिकतावादी यह भी कहेंगे कि समकालीन महाराष्ट्र की पाठ्यपुस्तकों में केवल दिल्ली की इलीटिज़म (अभिजात्यता) की जगह पुणे और मुंबई की अभिजात्यता ने ले ली है। अगर किसी ने इतिहास के लिए बेहतर

दृष्टिकोण बनाने की कोशिश की तो सवाल पूछे जाने चाहिए कि इनमें से कौन-सा पसंदीदा होना चाहिए। और यदि उनमें से कोई भी नहीं है, तो फिर अन्य प्रकार के इतिहास को छात्रों को पढ़ाया जाना चाहिए।

ज्ञान की समाजशास्त्रीय आलोचना हमें संस्कृति की राजनीति की बढ़ती हुई जागरूकता की तरफ ले जाता है, जो हमें यह स्वीकार करने के लिये प्रेरित करता है कि इतिहास की पाठ्यपुस्तकें (भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित, इत्यादि भी) एक सांस्कृतिक परियोजना में व्यस्त हैं। ये एक पहचान बनाते हैं, हमें यह समझाते हैं कि हम कौन हैं और हमें क्या करना चाहिए। प्रत्यक्षवाद (Positivism) के विपरीत, मध्यमार्गी उत्तर-आधुनिकतावादी यह कहेंगे कि इससे बचने की कोशिश व्यर्थ है। उसकी जगह हमें यह पूछना चाहिए कि अलग-अलग वैकल्पिक समझ में से हमें कौन-सी चुननी चाहिए और क्यों?

एक ऐसा इतिहास जो संस्कृति से परे हो और राजनीति से परे हो, मुमकिन ही नहीं है। हमें ऐसा इतिहास भी नहीं मिल सकता जो कि सार्वभौमिक और हर समय के लिए निष्पक्ष सत्य हो। लगता है कि यह मानवीय स्थिति से परे है। इसकी जगह हमें सांस्कृतिक मान्यताओं और पहचान-निर्माण, सौंदर्यशास्त्र, दमन के सम्बन्ध और स्वतंत्रता के सम्बन्ध पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

यहाँ तक तो यह वही सब बातें हैं जो कि सभी उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर-उपनिवेशवादी करते। नरम और मध्यमार्गी नज़रिए की विशेषता यह है कि वे पूछेंगे कि कौन-से वैकल्पिक दावे किए जा सकते हैं और उनमें से कौन-से दावे ज़्यादा सही हैं और उनके पक्ष में क्या प्रमाण, तर्क और मूल्य हैं। इसके

अन्त में, हम केवल आलोचना के साथ नहीं छोड़े जाते हैं, लेकिन वर्तमान से बेहतर इतिहास पाठ्यपुस्तक की ओर भी जा सकते हैं। मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूँ वह है इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का जब हम आकलन करते हैं, उसमें उनके सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलुओं के साथ-साथ वास्तविकता और नैतिक तर्कों का भी महत्व है।

जहाँ प्रत्यक्षवादी (Positivist) नज़रिए में इतिहास का सिर्फ़ एक ही रूप हो सकता है, अति उत्तर-आधुनिकतावाद में इतिहास के अनन्त रूप हो सकते हैं और सभी समान रूप से सही और ग़लत हैं। मध्यमार्गी रूप के उत्तर आधुनिकतावाद में कहेंगे कि वास्तव में अन्तर-व्यक्तिपरक समझ और समझौते के लिए काफी जगह है। उनकी नज़र में इतिहास की एक अनन्त संख्या नहीं होगी, उसके प्रतियोगी संस्करणों की एक छोटी संख्या होगी। दो दृष्टिकोणों के बीच में जितने भी मतभेद हों, फिर भी उनमें आपस में कई बिन्दुओं में वास्तव में सहमति भी रहेगी।

कई बार यह मुमकिन होता है कि लोग अपने हितों और परिवेशों से उभर कर एक से ज़्यादा व्यापक नज़रिया भी लेने की कोशिश करते हैं। इसका प्रमाण हमें इससे मिलता है कि आज बढ़ती संख्या में पुरुष मिलेंगे जो पितृसत्ता को समझने की कोशिश कर रहे हैं और तथाकथित उच्च जाति के लोग भी मिलेंगे जो जातिवादीय शोषण को समझना चाह रहे हैं। अपने सामाजिक हैसियत की ज्ञानमीमांसक (Epistemological) बाधाओं पर काबू पाना कठिन ज़रूर है, मगर शायद ना मुमकिन नहीं। हाँ, इसके लिये हमें प्रत्यक्षवादी (Positivist) तरीके से जैसे 'निष्पक्ष होने' के बारे में बात की जाती है, उससे अलग

एक ऐसा इतिहास जो संस्कृति से परे हो और राजनीति से परे हो, ऐसा मुमकिन ही नहीं है। हमें ऐसा इतिहास भी नहीं मिल सकता जो कि सार्वभौमिक और हर समय के लिए निष्पक्ष सत्य हो। लगता है कि यह मानवीय स्थिति से परे है। इसकी जगह हमें सांस्कृतिक मान्यताओं और पहचान-निर्माण, सौंदर्यशास्त्र, दमन के सम्बन्ध और स्वतंत्रता के संबंध पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

तरीके से काम करना पड़ेगा। इन सब कठिनाइयों के बावजूद, कुछ एक ज्ञान के पहलुओं पर एकमत होना शायद मुमकिन है।

स्कूल के इतिहास के पाठ्यक्रम के कई पहलू हो सकते हैं, जिन पर अलग-अलग मत बने हों। शायद इनमें से कइयों पर संवाद और फिर एकमत होना संभव है। जिस उदाहरण से हम लोगों ने शुरुआत की, भारत पर कथाकथित मराठा राज का, जिन बिन्दुओं पर संवाद हो सकता है, उनमें से कुछ हैं - व्यापक कथानक और विमर्श (Discourse), प्राथमिकताएं या मूल्य, वास्तविकता के साथ मेल और शैक्षणिक औचित्य। कथानक के मामले में इस पर बात हो सकती है कि क्षेत्रीय पहचान बनाने के लिये किस तरह का कथानक सबसे अच्छा है। क्या यह योद्धाओं की वीर गाथा सबसे सही है या कुछ और। उदाहरण के लिये क्या मराठी भाषा के लेखन और काव्य द्वारा पहचान की बातें नहीं की जा सकती? हो सकता है कि कुछ अध्ययन के बाद इस पर थोड़ी बहुत सहमति बन सके कि कौन-सी बात को ज़्यादा मूल्य देना सही है— आध्यात्मिकता या हिंसक वर्चस्व या काव्य या आर्थिक प्रक्रियाएँ, इत्यादि। हाँ, यह तो ज़ाहिर है जब राजनीतिक हितों का असर इतिहास की चर्चा पर होगा तो इन मूल्यों में से चयन इतना सरल नहीं होगा। अगर कोई पाठ्यपुस्तक का लेखक एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा के करीब है, जिसमें हिंसा और वर्चस्व का वर्णन बहुत महत्वपूर्ण जगह रखता है तो उसे उस से दूर हटना आसान नहीं लगेगा।

इस पर भी चर्चा की जा सकती है कि महाराष्ट्र की अस्मिता का इस तरह के मुखपृष्ठ द्वारा प्रस्तुतिकरण वास्तविकता से कितना मेल खाता है? इसमें जो सवाल सार्थक हैं, उनमें से कुछ

हैं — क्या मराठा फ़ौज ने इन इलाकों पर सही मायने में राज किया था या वे सिर्फ़ वहाँ धन अर्जन के लिए आक्रमण करने आए थे और थोड़ी ही देर में वापस लौट गए थे? क्या वहाँ के स्थानीय लोगों ने अपने आप को उसी देश का हिस्सा माना था या क्या उन्होंने मराठा फ़ौज को बाहरी आक्रमकों के रूप में देखा था? अभी जिस इलाके को बिना सीमा के दिखाया गया है, तब क्या उस समय के लोग अपने आप को इस तरह समझते थे या क्या उनमें कुछ अलग तरह की राजनीतिक पहचानें थीं? क्या मराठा जाति के लोगों से आज के पूरे महाराष्ट्र के लोगों का जुड़ाव था या वे अपने आप को अलग समूह या जाति के रूप में मानते थे? इस तरह के कई सवाल वास्तविकता और उसकी व्याख्या के हैं। यह पूछ कर कि उस समय के लोग किस तरह सोचते और व्यवहार करते थे और अलग-अलग समय पर इस में क्या फ़र्क आया, इन सब बातों को जानकर हम कुछ नतीजों पर पहुँच सकते हैं कि किस तरह का मुखपृष्ठ सही होता।

यह स्पष्ट है कि वास्तविकता के सवाल उन श्रेणियों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, जिनसे हम वास्तविकता को समझने की कोशिश करते हैं और उन मूल्यों की राजनीति से भी जिससे हम कुछ व्याख्याओं को पसंद और कुछ को नापसन्द करते हैं। मगर वास्तविकता की बात फिर भी करना ज़रूरी है, चाहे उसका प्रतिनिधित्व करना जितना भी मुश्किल हो। मेरा यह निवेदन है कि इस तरह के मुखपृष्ठ और ऐसी और बहुत सारी सामाजिक विज्ञान से जुड़ी बातों को लेकर जो सांस्कृतिक राजनीति से जुड़े सवाल हैं, इनमें वास्तविकता और मूल्यों के औचित्य के सवालों को हम नकार नहीं सकते। भले ही हमें सम्पूर्ण रूप से प्रमाणित ज़वाब कभी भी न मिल सकें।

सन्दर्भ

Beck, Ulrich. (1986), 1992. *Risk Society: Towards a New Modernity*. London: Sage.

Benhabib, Seyla. 1992, *Situating the Self: Gender, Community and Postmodernism in Contemporary Ethics*. Cambridge: Polity.

Chatterjee, Partha. 1993, *The Nation and Its Fragments*. Princeton: Princeton University Press.

- Derrida, J. (1981), *Structure, sign and play in the discourse of the human sciences*. In *Writing and difference* (pp. 278–294). London: Routledge & Kegan Paul.
- Foucault, Michel. (1968) 1972, *Archaeology of Knowledge*. London: Tavistock.
- Foucault, Michel. 1984a. "Truth and Power." In *The Foucault Reader*, edited by Paul Rabinow, 51–75. Vintage.
- Foucault, Michel. 1984b. "What Is Enlightenment." In *The Foucault Reader*, edited by Paul Rabinow, 51–75. Vintage.
- Giddens, Anthony. 1991, *The Consequences of Modernity*. 1st ed. Stanford University Press.
- Gilman, Charlotte Perkins. (1898) 1998, *Women and Economics: A Study of the Economic Relation between Men and Women as a Factor in Social Evolution*. Berkeley, Los Angeles, London: University of California Press.
- Lyotard, J.-F. (1984), *The postmodern condition: a report on knowledge*. (G. Bennington & B. Massumi, Trans.). Minneapolis: University of Minnesota Press.
- Madan, Amman. 2014, "Max Weber's Critique of the Bureaucratisation of Education." *Contemporary Education Dialogue* 11 (1): 95–113.
- Marx, Karl. (1932) 2018, *A Critique of the German Ideology*. <https://www.marxists.org/archive/marx/works/1845/german-ideology/index.htm>.
- Phule, Jotirao Govindrao. 2002, *Selected Writings of Jotirao Phule*. New Delhi: Leftworld.
- Ritzer, George. 1997, *Postmodern Social Theory*. New York: McGraw-Hill.
- Sarup, Madan. 1993, *An Introductory Guide to Post-Structuralism and Post-Modernism*. Second. New York: Harvester Wheatsheaf.

अमन मदान ने मानवशास्त्र और समाज शास्त्र का अध्ययन किया है। पिछले तीन दशकों से शिक्षा और समाज के मुद्दों पर अध्यापन एवं शोध के क्षेत्र में संलग्न हैं। वर्तमान में अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे हैं।
सम्पर्क: amman.madan@apu.edu.in